

औरत पूजा से परछाई तक



अनिल अनूप

औरत: पूजा से परछाई तक

A Vedic Publication Book

UDYAM-UK-06-0031825

All rights reserved.

Copyright © 2026 by अनिल अनूप

No part of this publication may be reproduced, distributed, or transmitted in any form without the prior written permission of the publisher, except in the case of brief quotations embodied in critical reviews and certain other noncommercial uses permitted by copyright law.

The opinions/contents expressed in this book are solely of the author and do not represent the opinions/ stands/ thoughts of The Vedic Publication.



Contact info:-

✉ vedicpublication@gmail.com

✉ वैदिक प्रकाशन, गंगा विहार, भूपतवाला, हरिद्वार उत्तराखंड

☎ 7007470800

☎ 8076419711

अनुक्रमणिका

1. "औरत: पूजा से परछाई तक का सफर" 4
2. "देवी का मिथक: स्त्री का आदर्शीकरण" 11
3. "बेटी: आँगन की रोशनी या जिम्मेदारी का बोझ?" 18
4. "पत्नी: समर्पण की परिभाषा किसने लिखी?" 24
5. "माँ: त्याग का प्रतीक या दबाव का केंद्र?" 31
6. "जब घर सुरक्षित नहीं रहता" 38
7. "देह का बाज़ार: इतिहास और वर्तमान" 46
8. "मजबूरी, तस्करी और छल: परछाई की ओर धकेलते रास्ते" 54
9. "बार बाला: रोशनी के पीछे की अंधेरी कहानी" 62
10. "ग्राहक कौन है?" 70
11. "समाज की चयनात्मक नैतिकता" 78

~ ~ ~

अध्याय 1

“औरत: पूजा से परछाई तक का सफर”

कभी किसी मंदिर के आँगन में खड़ी उस स्त्री को देखिए, जिसके माथे पर सिंदूर है, हाथों में चूड़ियाँ हैं और आँखों में विश्वास। वह दीपक जला रही है—अपने परिवार की सुख-समृद्धि के लिए। उसी क्षण, किसी शहर की अंधेरी गली में खड़ी एक दूसरी स्त्री को भी देखिए—जिसके हाथ में भी शायद कभी चूड़ियाँ थीं, जिसकी आँखों में भी कभी वही विश्वास रहा होगा। फर्क केवल इतना है कि एक को समाज ने “पूजनीय” घोषित किया और दूसरी को “परछाई” बना दिया।

यहीं से शुरू होता है यह सफर—पूजा से परछाई तक का।

औरत का जीवन एक सीधी रेखा नहीं है। यह वृत्तों, मोड़ों और टूटनों से भरा हुआ रास्ता है। वह जन्म लेती है तो उसे देवी का रूप कहा जाता है। “लक्ष्मी आई है घर में”—यह वाक्य सुनकर घर में उत्सव सा माहौल बन जाता है। लेकिन उसी घर में कुछ वर्षों बाद वही बच्ची यह भी सुनती है—“ज्यादा मत हँसो”, “धीरे

चलो", "बात कम करो", "यह मत पहनना", "वह मत करना।" देवी का दर्जा पाते-पाते वह सीमाओं के घेरे में आ जाती है।

पूजा का अर्थ केवल आरती और फूल नहीं है। पूजा का अर्थ है ऊँचाई पर स्थापित करना। और जब किसी को ऊँचाई पर स्थापित कर दिया जाता है, तो वह धरती पर चलने का अधिकार खो देता है। यही स्त्री के साथ हुआ। उसे देवी बनाकर समाज ने उसके मनुष्य होने के अधिकार को धीरे-धीरे सीमित कर दिया। उसे त्याग की मूर्ति कहा गया, सहनशीलता की प्रतिमा कहा गया, लेकिन उसकी इच्छाओं, उसकी कमज़ोरियों, उसके सपनों को कभी खुलकर स्वीकार नहीं किया गया।

फिर जीवन उसे रिश्तों के नए नाम देता है—बेटी, बहन, पत्नी, माँ। हर नाम के साथ अपेक्षाओं का एक नया बोझ जुड़ जाता है। बेटी है तो घर की इज्जत का प्रतीक। पत्नी है तो पति के सम्मान की संरक्षक। माँ है तो बच्चों के भविष्य की नींव। हर भूमिका में वह अपना अस्तित्व थोड़ा-थोड़ा बाँटती जाती है। और समाज हर बार उसकी भूमिका की प्रशंसा करता है—जब तक वह मर्यादा की रेखा के भीतर है।

लेकिन प्रश्न यह है—मर्यादा की रेखा किसने खींची?

जब तक स्त्री उस रेखा के भीतर रहती है, वह पूजा जाती है। जैसे ही वह किसी कारणवश उस रेखा के बाहर दिखाई देती है—चाहे वह मजबूरी हो, विद्रोह हो या परिस्थितियों का दबाव—वह सम्मान की सूची से बाहर कर दी जाती है। वही स्त्री, जो कल तक परिवार की शान थी, आज चरित्र की कसौटी पर तौली जाने लगती है।

यह सफर अचानक नहीं होता। यह धीरे-धीरे घटित होता है। कभी आर्थिक संकट से, कभी घरेलू हिंसा से, कभी छल-कपट से, तो कभी सामाजिक तिरस्कार से। एक लड़की जो घर से भागकर शहर आती है—शायद सपनों के साथ। उसे नौकरी का वादा मिलता है, शादी का भरोसा मिलता है, या बेहतर जीवन का लालच। और जब वह धोखे का शिकार होती है, तब तक उसके लौटने के सारे दरवाजे बंद हो चुके होते हैं। समाज कहता है—“गलती उसकी थी।” लेकिन क्या सच में गलती उसकी थी?

पूजा से परछाई तक का यह सफर केवल बाहरी नहीं है, यह भीतर का भी है। जिस दिन एक स्त्री को यह एहसास होता है कि अब वह सम्मान की परिभाषा से बाहर है, उसी दिन उसके

भीतर का विश्वास टूटता है। वह स्वयं को समाज की नजर से देखने लगती है—संदेह और अपराधबोध के साथ।

सबसे बड़ी विडंबना यह है कि समाज उस स्त्री को तो दोषी ठहराता है, जो बाज़ार में खड़ी है, लेकिन उस बाज़ार को चलाने वाले हाथों को अनदेखा कर देता है। ग्राहक का चेहरा भीड़ में खो जाता है; विक्रेता का चेहरा बदनाम हो जाता है। खरीदने वाला प्रतिष्ठित रहता है; बिकने वाली परछाई बन जाती है।

क्या हमने कभी सोचा कि जिस स्त्री को हम "गिरा हुआ" कह देते हैं, वह भी कभी किसी की बेटी रही होगी? क्या उसने भी कभी अपने जीवन के लिए सामान्य सपने नहीं देखे होंगे—एक घर, एक परिवार, थोड़ी-सी शांति? अगर परिस्थितियाँ उसे उस अंधेरे मोड़ पर ले गईं, तो क्या हम केवल उसके निर्णय को दोष देकर मुक्त हो सकते हैं?

यह पुस्तक उस दोषारोपण की संस्कृति पर प्रश्न उठाती है। यह पूछती है कि क्या स्त्री का सम्मान सशर्त है? क्या उसे सम्मान तभी मिलेगा, जब वह हमारे तय किए हुए आदर्शों के भीतर रहे? और यदि वह उन आदर्शों से बाहर चली जाए—तो क्या वह मनुष्य होने का अधिकार भी खो देती है?

औरत का सफर केवल सामाजिक नहीं, ऐतिहासिक भी है। सदियों से उसकी देह पर नैतिकता का बोझ डाला गया है। उसकी इच्छाओं को नियंत्रित किया गया है, उसकी स्वतंत्रता को

मर्यादा के नाम पर सीमित किया गया है। लेकिन जब वही समाज उसकी देह को उपभोग की वस्तु बना देता है, तब नैतिकता अचानक मौन हो जाती है।

“पूजा” और “परछाई” दो चरम स्थितियाँ हैं। एक में स्त्री को ऊँचा उठाकर रखा जाता है, दूसरी में उसे छिपाकर रखा जाता है। दोनों ही स्थितियों में एक बात समान है—उसे मनुष्य की तरह नहीं देखा जाता। या तो वह आदर्श है, या अपराध। बीच की जगह, जहाँ वह केवल एक इंसान है—वह जगह अक्सर खाली रह जाती है।

यह पुस्तक उसी खाली जगह को भरने की कोशिश है।

यह सफर केवल स्त्री का नहीं, समाज का भी है। क्योंकि जब हम किसी को परछाई बना देते हैं, तो हमारे भीतर भी अंधेरा बढ़ता है। हमें यह तय करना होगा कि हम स्त्री को किस रूप में देखना चाहते हैं—एक आदर्श, जिसे पूजकर नियंत्रित किया जाए? या एक मनुष्य, जिसे उसके सम्पूर्ण अस्तित्व के साथ स्वीकार किया जाए?

औरत पूजा से परछाई तक कैसे पहुँचती है—इसका उत्तर एक पंक्ति में नहीं मिल सकता। यह उत्तर कई अध्यायों में बिखरा

हुआ है—गरीबी में, पितृसत्ता में, बाजारवाद में, शिक्षा की कमी में, और हमारी सामूहिक चुप्पी में।

लेकिन शायद सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है—क्या यह सफर अपरिवर्तनीय है? क्या जो स्त्री परछाई बन गई है, वह फिर से रोशनी में नहीं आ सकती? क्या हम उसके लिए सम्मान की नई परिभाषा नहीं गढ़ सकते—जो पेशे, परिस्थिति या अतीत पर आधारित न हो?

यह पुस्तक उत्तर देने से अधिक प्रश्न पूछेगी। क्योंकि परिवर्तन प्रश्नों से शुरू होता है, उपदेशों से नहीं।

और आज जब हम इस सफर की शुरुआत कर रहे हैं, तो हमें यह स्वीकार करना होगा—औरत को हमने ही पूजा बनाया, और हमने ही परछाई बनाया। अब समय है उसे मनुष्य के रूप में देखने का।

यहीं से यह यात्रा आगे बढ़ेगी...

बहुत सुंदर...

अब हम प्रवेश करते हैं उस अध्याय में जहाँ से स्त्री की "ऊँचाई" की कहानी शुरू होती है—और उसी ऊँचाई में छिपा उसका नियंत्रण भी।

अध्याय 2

“देवी का मिथक: स्त्री का आदर्शिकरण”

जब किसी समाज को किसी वर्ग को नियंत्रित करना होता है, तो वह दो रास्ते अपनाता है—या तो उसे डराता है, या उसे ऊँचा उठाकर स्थापित कर देता है। स्त्री के संदर्भ में हमने दूसरा रास्ता चुना। हमने उसे देवी बना दिया।

देवी—एक ऐसा शब्द, जो सम्मान, शक्ति और पवित्रता का प्रतीक है। घर में कन्या के जन्म पर कहा जाता है—“लक्ष्मी आई है।” नवरात्र में नौ दिन तक कन्याओं के चरण धोए जाते हैं। विवाह में दुल्हन को गृहलक्ष्मी कहा जाता है। माँ को अन्नपूर्णा का रूप माना जाता है। यह सब सुनने में अत्यंत सम्मानजनक लगता है। और सच भी है—हमारी संस्कृति ने स्त्री को प्रतीकों में बहुत ऊँचा स्थान दिया है।

लेकिन प्रश्न यह है—क्या यह ऊँचाई उसे स्वतंत्र भी करती है?

देवी कभी गलती नहीं करती। देवी क्रोध नहीं करती। देवी इच्छा नहीं जताती। देवी का जीवन त्याग, शांति और मर्यादा का उदाहरण होता है। जब हम किसी स्त्री को देवी कहते हैं, तो अनजाने में हम उससे यह अपेक्षा भी जोड़ देते हैं कि वह इन सभी गुणों का निर्वाह करे। वह क्रोध करेगी तो कहा जाएगा—“देवी की तरह शांत रहो।” वह अपनी इच्छा जताएगी तो कहा जाएगा—“इतना स्वार्थ ठीक नहीं।” वह विद्रोह करेगी तो कहा जाएगा—“स्त्री होकर ऐसा व्यवहार?”

यहाँ से आदर्शिकरण नियंत्रण में बदल जाता है।

स्त्री को देवी बनाकर हमने उसे मनुष्य होने से रोका। क्योंकि मनुष्य में कमजोरी होती है, इच्छा होती है, असहमति होती है। देवी में नहीं। देवी एक प्रतीक है—निर्जीव, अनुशासित और मर्यादित। लेकिन स्त्री जीवित है—उसकी धड़कन है, उसका मन है, उसकी आकांक्षाएँ हैं।

इतिहास पर दृष्टि डालें तो पाएँगे कि स्त्री का आदर्शिकरण अक्सर सामाजिक संरचना को स्थिर रखने के लिए किया गया।

उसे त्याग और सहनशीलता का प्रतीक बनाकर परिवार की धुरी पर टिकाए रखा गया। यदि वह सब सह लेती है, तो घर बचा रहता है। यदि वह विद्रोह कर दे, तो व्यवस्था हिल सकती है। इसलिए उसे बताया गया—तुम शक्ति हो, तुम धैर्य हो, तुम सहनशीलता हो। लेकिन यह कम ही कहा गया—तुम स्वतंत्र हो।

देवी के मिथक का एक और पहलू है—पवित्रता। स्त्री की पवित्रता को उसके चरित्र से जोड़ा गया। उसकी देह को मर्यादा का केंद्र बना दिया गया। यह धारणा इतनी गहरी बैठी कि स्त्री की संपूर्ण पहचान उसके “चरित्र” से तय होने लगी। यदि वह सामाजिक मानकों के भीतर रही, तो देवी। यदि उन सीमाओं से बाहर गई, तो संदिग्ध।

यहीं से पूजा से परछाई तक का रास्ता तैयार होता है।

आदर्शिकरण का दूसरा प्रभाव यह है कि स्त्री से असाधारण अपेक्षाएँ की जाती हैं। वह कामकाजी भी हो, लेकिन घर भी संभाले। वह आधुनिक भी हो, लेकिन मर्यादित भी। वह स्वतंत्र भी हो, लेकिन सीमाओं में रहे। यह द्वंद्व उसे निरंतर मानसिक दबाव में रखता है। जब वह इन अपेक्षाओं को पूरा नहीं कर पाती, तो अपराधबोध उसे घेर लेता है।

देवी का मिथक स्त्री के वास्तविक संघर्षों को भी अदृश्य कर देता है। यदि वह पीड़ा में है, तो कहा जाता है—“माँ तो सब सह लेती है।” यदि वह अन्याय के खिलाफ बोलती है, तो कहा जाता है—“इतना क्रोध ठीक नहीं।” उसकी आवाज़ को उसकी भूमिका के विरुद्ध समझा जाता है।

क्या हमने कभी सोचा कि देवी बनने की कीमत क्या है?

देवी को पूजा जाता है, लेकिन उसके साथ संवाद नहीं होता। उसे प्रश्न पूछने का अधिकार नहीं होता। उसे pedestal पर रखा जाता है—जहाँ से गिरना आसान है, टिके रहना कठिन। और जब वह गिरती है, तो उसे क्षमा नहीं मिलता।

यह मिथक केवल धार्मिक प्रतीकों तक सीमित नहीं है। यह रोज़मर्रा की भाषा में भी मौजूद है। “औरत तो सहनशील होती है”, “माँ का दिल बड़ा होता है”, “पत्नी को घर बचाना चाहिए”— ये वाक्य सुनने में सकारात्मक लगते हैं, लेकिन इनके भीतर अपेक्षा का बोझ छिपा है।

आदर्शिकरण की विडंबना यह है कि यह स्त्री को सम्मान भी देता है और बंधन भी। उसे ऊँचाई भी देता है और अकेलापन भी। क्योंकि जो ऊँचाई पर है, वह अकेला होता है। उसकी कमज़ोरियों को कोई स्वीकार नहीं करता।

और जब वही स्त्री किसी कारणवश इन आदर्शों से अलग जीवन जीने लगती है—चाहे परिस्थितियों के कारण, चाहे अपनी इच्छा से—तो वही समाज जो उसे देवी कहता था, अचानक उसे दोषी घोषित कर देता है। आदर्श से गिरना, सामान्य होने से भी अधिक कठिन होता है।

देवी का मिथक इसलिए भी खतरनाक है क्योंकि यह वास्तविक समस्याओं को ढँक देता है। यदि स्त्री को शक्ति का प्रतीक मान लिया जाए, तो उसके शोषण को कम करके आँका जाता है। कहा जाता है—“वह मजबूत है, संभाल लेगी।” लेकिन हर मजबूत दिखने वाली स्त्री भीतर से टूट भी सकती है।

यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है—क्या स्त्री को सम्मान देने का अर्थ उसे देवी कहना है? या उसे उसके सम्पूर्ण मानव रूप में स्वीकार करना है?

सम्मान का वास्तविक अर्थ है—उसकी इच्छाओं को मान्यता देना, उसके निर्णयों का सम्मान करना, उसकी गलतियों को भी मनुष्य की तरह देखना। देवी का सम्मान एकतरफा है—वह पूजनीय है, लेकिन स्वतंत्र नहीं। मनुष्य का सम्मान पारस्परिक है—वह बराबरी का है।

पूजा से परछाई तक का सफर तब शुरू होता है जब आदर्श टूटता है। जब स्त्री उस छवि से बाहर निकलती है, जो समाज ने

उसके लिए गढ़ी है। और तब उसे यह एहसास होता है कि जो सम्मान उसे मिला था, वह सशर्त था।

इस अध्याय का उद्देश्य देवी की अवधारणा को नकारना नहीं है, बल्कि उसके सामाजिक प्रभाव को समझना है। प्रतीक प्रेरणा दे सकते हैं, लेकिन जब प्रतीक अपेक्षा में बदल जाँ, तो वे बोझ बन जाते हैं।

शायद समय आ गया है कि हम स्त्री को pedestal से उतारकर धरती पर लाँ। उसे पूजा नहीं, साझेदारी दें। उसे आदर्श नहीं, अवसर दें। उसे चुप्पी नहीं, आवाज़ दें।

क्योंकि जब तक वह देवी बनी रहेगी, तब तक उसके गिरने का डर बना रहेगा। और जब वह मनुष्य बनेगी, तभी वह स्वतंत्र होगी।

यात्रा अभी लंबी है...

अगला अध्याय हमें ले जाएगा उस मोड़ पर जहाँ यह आदर्शीकरण बचपन से शुरू होता है—

“बेटी: आँगन की रोशनी या जिम्मेदारी का बोझ?”

बहुत अच्छा...

अब हम उस मोड़ पर आते हैं जहाँ स्त्री का पहला सामाजिक परिचय तय होता है—बेटी के रूप में। यहीं से पूजा की शुरुआत भी होती है और बोझ की परिभाषा भी।

अध्याय 3

“बेटी: आँगन की रोशनी या जिम्मेदारी का बोझ?”

घर में एक नन्ही किलकारी गूँजती है। लोग कहते हैं—“लक्ष्मी आई है।” माँ की आँखों में चमक होती है, पिता के चेहरे पर मुस्कान। परंतु उसी क्षण समाज की अनकही परतें भी सक्रिय हो जाती हैं। कुछ चेहरे सचमुच प्रसन्न होते हैं, कुछ औपचारिक। कहीं बधाई के साथ यह वाक्य भी जुड़ जाता है—“कोई बात नहीं, अगली बार बेटा हो जाएगा।”

यहीं से बेटी का द्वंद्व शुरू होता है—वह एक साथ आशीर्वाद भी है और अपेक्षा भी।

बेटी को अक्सर घर की रोशनी कहा जाता है। उसे स्नेह, ममता और कोमलता का प्रतीक माना जाता है। लेकिन यह रोशनी हमेशा निश्चिंत नहीं होती। उसके साथ एक अदृश्य चिंता भी जुड़ी होती है—उसकी सुरक्षा की, उसके भविष्य की, उसकी शादी की। एक बेटे के जन्म पर जिस प्रकार भविष्य की योजनाएँ उत्साह से बनती हैं, बेटी के जन्म पर योजनाओं के साथ आशंकाएँ भी जुड़ जाती हैं।

समाज में आज भी कई स्थानों पर बेटी का जन्म आर्थिक और सामाजिक बोझ की तरह देखा जाता है। दहेज की प्रथा, विवाह का खर्च, "पराया धन" जैसी अवधारणाएँ—ये सब मिलकर बेटी की पहचान को सीमित कर देती हैं। उसे बचपन से सिखाया जाता है—“यह घर तेरा नहीं, तुझे एक दिन ससुराल जाना है।” यह वाक्य सुनने में सामान्य लगता है, लेकिन उसके भीतर एक गहरी असुरक्षा छिपी होती है। वह अपने ही घर में अस्थायी हो जाती है।

क्या हमने कभी सोचा कि यह अस्थायित्व उसकी आत्मा पर क्या प्रभाव डालता है?

बेटी को बचपन से मर्यादा सिखाई जाती है। उसे बताया जाता है कि कैसे बैठना है, कैसे बोलना है, किससे बात करनी है, किससे नहीं। उसकी हँसी की आवाज़ भी कभी-कभी नियंत्रित कर दी जाती है—“लड़कियाँ ज़्यादा ज़ोर से नहीं हँसतीं।” उसे यह समझाया जाता है कि उसकी इज्जत केवल उसकी नहीं, पूरे परिवार की है। इस प्रकार उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता को परिवार की प्रतिष्ठा से बाँध दिया जाता है।

यहाँ एक और विडंबना है। जिस बेटी को घर की इज्जत का प्रतीक कहा जाता है, उसी की सुरक्षा सुनिश्चित करने में समाज बार-बार विफल होता है। छेड़छाड़, उत्पीड़न, हिंसा—इन घटनाओं के बाद अक्सर सवाल बेटी से पूछे जाते हैं—“कहाँ गई

थी?", "किसके साथ थी?", "क्या पहन रखा था?" अपराधी पर प्रश्न कम, पीड़िता पर अधिक।

इस वातावरण में बेटी बड़ी होती है। उसके सपने भी होते हैं— डॉक्टर बनने के, लेखक बनने के, खिलाड़ी बनने के। लेकिन हर सपना एक सामाजिक फिल्टर से गुजरता है—“इतनी दूर पढ़ने क्यों जाना?”, “रात की नौकरी ठीक नहीं”, “बहुत करियर-ओरिएण्टेड मत बनो।” उसे स्वतंत्रता दी भी जाती है, तो शर्तों के साथ।

फिर भी यह पूरी कहानी नकारात्मक नहीं है। बदलाव भी हो रहा है। आज कई परिवार बेटियों को समान अवसर दे रहे हैं। वे शिक्षा में आगे बढ़ रही हैं, विज्ञान, राजनीति, साहित्य, खेल—हर क्षेत्र में अपनी पहचान बना रही हैं। लेकिन इस प्रगति के साथ संघर्ष भी जारी है। क्योंकि मानसिकता का परिवर्तन सबसे धीमी प्रक्रिया है।

बेटी को रोशनी कहा जाता है, पर क्या उसे रोशनी की तरह फैलने दिया जाता है?

कई बार बेटी की भूमिका परिवार में भावनात्मक श्रम तक सीमित रह जाती है। वह सबको जोड़कर रखने वाली होती है। भाई के गुस्से को शांत करती है, माता-पिता की चिंता सुनती है। उससे अपेक्षा की जाती है कि वह संवेदनशील हो, सहनशील हो, समायोजन करे। बचपन से ही उसे “समझदार” बनने की ट्रेनिंग

दी जाती है। और समझदारी अक्सर त्याग का दूसरा नाम बन जाती है।

यहाँ एक और पहलू है—भ्रूण हत्या। तकनीकी प्रगति ने जहाँ जीवन को सरल बनाया, वहीं लिंग-चयन जैसी भयावह प्रवृत्तियाँ भी सामने आईं। कई स्थानों पर बेटी को जन्म लेने से पहले ही रोक दिया जाता है। यह केवल एक हत्या नहीं, यह एक विचार की हत्या है—उस संभावना की, जो जीवन को समृद्ध कर सकती थी।

बेटी के संदर्भ में सबसे बड़ी समस्या यह है कि उसे अक्सर एक “भूमिका” के रूप में देखा जाता है, व्यक्ति के रूप में नहीं। वह भविष्य की पत्नी है, भविष्य की माँ है—लेकिन वर्तमान की स्वतंत्र इकाई कम ही मानी जाती है। उसके निर्णयों पर परिवार का अधिकार अधिक होता है।

और यही वह बिंदु है जहाँ पूजा से परछाई तक का रास्ता तैयार होने लगता है। यदि बेटी को बचपन से यह सिखाया जाए कि उसका अस्तित्व दूसरों के लिए है, तो वह बड़े होकर अपने अधिकारों के लिए आवाज़ उठाने में संकोच करेगी। यदि उसे यह विश्वास नहीं दिया जाए कि वह अपने जीवन की स्वामी है, तो वह परिस्थितियों के आगे अधिक असुरक्षित हो सकती है।

यह अध्याय किसी परिवार को दोषी ठहराने के लिए नहीं है। यह उस सामूहिक सोच की पड़ताल है, जिसने बेटी को एक साथ

आशीर्वाद और बोझ बना दिया। यह सोच धीरे-धीरे बदल रही है, लेकिन अभी लंबा रास्ता बाकी है।

बेटी की रोशनी तभी स्थायी होगी, जब उसे बिना शर्त स्वीकार किया जाएगा। जब उसके जन्म पर केवल उत्सव होगा, तुलना नहीं। जब उसकी शिक्षा में निवेश होगा, समझौता नहीं। जब उसकी सुरक्षा को उसकी स्वतंत्रता से नहीं जोड़ा जाएगा। जब उसे यह नहीं कहा जाएगा कि “यह मत करो, लोग क्या कहेंगे,” बल्कि यह कहा जाएगा—“तुम जो चाहो, कर सकती हो।”

क्योंकि जो बेटी बचपन में असुरक्षित महसूस करती है, वह बड़े होकर या तो अत्यधिक समायोजन करती है या भीतर ही भीतर टूट जाती है। और समाज फिर आश्चर्य करता है—“वह उस रास्ते पर क्यों चली गई?”

पूजा से परछाई तक का सफर अचानक नहीं होता। वह बचपन की छोटी-छोटी असमानताओं से शुरू होता है। वह उन वाक्यों से शुरू होता है, जिन्हें हम सामान्य समझते हैं। वह उस क्षण से शुरू होता है, जब बेटी को बताया जाता है कि उसका जीवन उसका अपना नहीं, दूसरों की अपेक्षाओं का विस्तार है।

लेकिन आशा की किरण भी यहीं है। यदि हम बेटी को केवल रोशनी कहकर नहीं, रोशनी बनने का अवसर देकर बड़ा करें—तो शायद वह कभी परछाई नहीं बनेगी।

यात्रा आगे बढ़ती है...

अब हम प्रवेश करेंगे उस संस्था में, जहाँ बेटी पत्नी बनती है—
और अपेक्षाएँ और गहरी हो जाती हैं।

अगला अध्याय:

“पत्नी: समर्पण की परिभाषा किसने लिखी?”

बहुत अच्छा...

अब हम उस पड़ाव पर आते हैं जहाँ बेटी से स्त्री का सामाजिक
रूपांतरण सबसे औपचारिक तरीके से होता है—विवाह। यहीं से
उसके जीवन की दिशा बदलती है, और यहीं से “समर्पण” शब्द
उसकी पहचान के साथ स्थायी रूप से जुड़ जाता है।

अध्याय 4

“पत्नी: समर्पण की परिभाषा किसने लिखी?”

विवाह—हमारे समाज में केवल दो व्यक्तियों का मिलन नहीं, दो परिवारों का गठबंधन माना जाता है। यह संस्कार है, परंपरा है, सामाजिक मान्यता है। और इसी संस्कार के भीतर एक नई भूमिका जन्म लेती है—पत्नी।

जब एक लड़की विवाह के मंडप में बैठती है, तो उसके लिए अनेक विशेषण बोले जाते हैं—“गृहलक्ष्मी”, “सात जन्मों की साथी”, “पति की अर्धांगिनी।” इन शब्दों में प्रेम भी है, सम्मान भी, लेकिन इनके भीतर अपेक्षाओं का एक विशाल संसार भी छिपा है। उसे बताया जाता है कि अब यह घर उसका अपना है। परंतु यह अपनापन अक्सर शर्तों के साथ आता है।

पत्नी से अपेक्षा की जाती है कि वह नए घर की रीति-नीति अपनाए, परिवार की आदतों को समझे, समायोजन करे। समायोजन—यह शब्द इतना सामान्य है कि इसके भीतर छिपे त्याग को हम अक्सर पहचान ही नहीं पाते। समायोजन का अर्थ होता है—अपने विचारों को थोड़ा पीछे रखना, अपनी आदतों

को बदलना, अपनी प्राथमिकताओं को संशोधित करना। और यह प्रक्रिया एकतरफा भी हो सकती है।

क्या कभी हमने सोचा कि समर्पण की परिभाषा किसने तय की?

समाज में पत्नी को त्याग और धैर्य का प्रतीक बनाया गया है। यदि घर में विवाद हो, तो सलाह दी जाती है—“थोड़ा समझौता कर लो।” यदि आर्थिक संकट हो, तो कहा जाता है—“तुम साथ दोगी तो सब संभल जाएगा।” यदि पति का व्यवहार कठोर हो, तो भी अक्सर यही सुनने को मिलता है—“पति है, थोड़ा गुस्सा कर दिया तो क्या?” इन वाक्यों के भीतर एक मौन स्वीकृति छिपी होती है कि पत्नी का धैर्य अनंत होना चाहिए।

पत्नी का अस्तित्व धीरे-धीरे उसके पति की पहचान से जुड़ जाता है। उसका नाम भी कभी-कभी बदल जाता है, उसका घर बदल जाता है, उसका सामाजिक परिचय बदल जाता है। वह अपनी जन्मभूमि से विदा लेकर एक नए परिवेश में प्रवेश करती है। यह परिवर्तन केवल भौगोलिक नहीं, भावनात्मक भी होता है। और इस भावनात्मक संक्रमण में उससे अपेक्षा की जाती है कि वह तुरंत सहज हो जाए।

यहाँ एक और पहलू महत्वपूर्ण है—आर्थिक निर्भरता। यदि पत्नी आर्थिक रूप से स्वतंत्र नहीं है, तो उसका निर्णय लेने का अधिकार सीमित हो सकता है। वह घर चलाती है, बच्चों की देखभाल करती है, परिवार को जोड़े रखती है—लेकिन इन कार्यों का आर्थिक मूल्य नहीं आँका जाता। उसका श्रम अदृश्य रहता है। और जब उसका श्रम अदृश्य होता है, तो उसका अधिकार भी कमजोर हो जाता है।

दहेज की परंपरा ने इस भूमिका को और जटिल बना दिया। विवाह एक सामाजिक उत्सव है, लेकिन कई बार यह आर्थिक बोझ में बदल जाता है। दहेज केवल लेन-देन नहीं, शक्ति-संतुलन का प्रतीक बन जाता है। यदि दहेज कम हो, तो पत्नी को तानों का सामना करना पड़ सकता है। यह स्थिति उसकी आत्मा को धीरे-धीरे घायल करती है।

लेकिन कहानी केवल पीड़ा की नहीं है। विवाह में प्रेम भी होता है, साझेदारी भी, सहयोग भी। कई दंपति बराबरी के आधार पर जीवन जीते हैं, एक-दूसरे के सपनों को सम्मान देते हैं। परंतु समस्या तब शुरू होती है जब समाज पत्नी की भूमिका को पूर्वनिर्धारित साँचे में बाँध देता है।

पत्नी से अपेक्षा की जाती है कि वह पति के परिवार को प्राथमिकता दे, अपने परिवार से दूरी बनाए। यदि वह अपने माता-पिता के प्रति अधिक संवेदनशील हो, तो उसे "अभी तक

मायके से जुड़ी” कहा जा सकता है। यह दोहरा दबाव उसे लगातार संतुलन साधने पर मजबूर करता है।

और यदि विवाह में हिंसा हो—मानसिक, भावनात्मक या शारीरिक—तो स्थिति और गंभीर हो जाती है। कई बार पत्नी को यही समझाया जाता है कि “घर की बात घर में ही रखो।” वह चुप रहती है, क्योंकि उसे बताया गया है कि घर बचाना उसका कर्तव्य है। उसकी चुप्पी को उसकी सहनशीलता समझ लिया जाता है।

यहीं से पूजा से परछाई तक का एक और रास्ता खुलता है।

यदि पत्नी लगातार अपमान, हिंसा या उपेक्षा का सामना करे, तो उसके भीतर का आत्मसम्मान टूटने लगता है। यदि उसे बार-बार यह महसूस कराया जाए कि उसका मूल्य केवल उसकी भूमिका से जुड़ा है, तो वह अपने अस्तित्व को उसी भूमिका तक सीमित समझने लगती है। और यदि किसी मोड़ पर वह इस भूमिका से बाहर निकलने का निर्णय लेती है—तलाक, अलगाव या विद्रोह के रूप में—तो समाज अक्सर उसे कठोर दृष्टि से देखता है।

समर्पण की परिभाषा को हमने इतना पवित्र बना दिया कि उसमें असहमति के लिए जगह ही नहीं छोड़ी। जबकि विवाह दो व्यक्तियों की साझेदारी है, न कि एक का त्याग और दूसरे का अधिकार।

यह भी सत्य है कि पत्नी की भूमिका में शक्ति भी छिपी है। वह परिवार की भावनात्मक धुरी होती है। वह निर्णयों को प्रभावित कर सकती है, बच्चों के भविष्य को दिशा दे सकती है। लेकिन यह शक्ति तभी सार्थक है, जब उसे बराबरी का दर्जा मिले।

पत्नी को देवी बनाकर पूजना आसान है, लेकिन उसे बराबरी का साथी बनाना कठिन। क्योंकि बराबरी में प्रश्न होते हैं, संवाद होता है, मतभेद होते हैं। और यही वह प्रक्रिया है, जिससे वास्तविक सम्मान जन्म लेता है।

इस अध्याय का उद्देश्य विवाह संस्था को नकारना नहीं, बल्कि उसमें छिपी असमानताओं को पहचानना है। यदि पत्नी को केवल समर्पण की मूर्ति बना दिया जाए, तो उसका व्यक्तित्व धीरे-धीरे क्षीण हो सकता है। लेकिन यदि उसे साझेदारी का अधिकार दिया जाए, तो वही विवाह सशक्त बन सकता है।

पूजा से परछाई तक का सफर कभी-कभी उसी घर से शुरू होता है, जिसे स्त्री अपना आश्रय समझती है। यदि घर ही सुरक्षित और सम्मानजनक हो, तो वह परछाई बनने से बच

सकती है। लेकिन यदि घर ही उसकी आवाज़ को दबा दे, तो उसके भीतर का अंधेरा बढ़ सकता है।

अब यात्रा हमें उस भूमिका की ओर ले जाएगी, जिसे समाज सबसे पवित्र मानता है—माँ।

अगला अध्याय:

“माँ: त्याग का प्रतीक या दबाव का केंद्र?”

बहुत अच्छा...

अब हम उस रूप पर आते हैं, जिसे समाज सबसे ऊँचा, सबसे पवित्र और सबसे निष्कलंक मानता है—माँ। यही वह बिंदु है जहाँ स्त्री को लगभग पूर्णता का प्रतीक बना दिया जाता है। लेकिन क्या इस पूर्णता के भीतर भी कोई दबाव छिपा है?

अध्याय 5

“माँ: त्याग का प्रतीक या दबाव का केंद्र?”

“माँ” — यह शब्द अपने आप में एक भावनात्मक संसार है। जैसे ही यह उच्चारित होता है, मन में सुरक्षा, ममता, अपनापन और निस्वार्थ प्रेम की छवि उभर आती है। हमारे साहित्य, सिनेमा, धर्म और लोककथाओं में माँ को लगभग दिव्यता का दर्जा दिया गया है। कहा जाता है—“भगवान हर जगह नहीं हो सकता, इसलिए उसने माँ बनाई।” यह वाक्य सुनने में सुंदर है, भावनात्मक है। लेकिन क्या इस सुंदरता के भीतर भी कोई बोझ छिपा है?

माँ को त्याग की मूर्ति कहा जाता है। उसे यह सिखाया जाता है कि उसका अस्तित्व अब केवल उसके बच्चों के लिए है। वह रातों की नींद त्याग दे, अपने सपनों को स्थगित कर दे, अपनी इच्छाओं को पीछे रख दे—यह सब स्वाभाविक माना जाता है। समाज उसकी इस त्यागशीलता की प्रशंसा करता है, लेकिन क्या कभी यह पूछता है कि वह क्या चाहती है?

मातृत्व को इतना महिमामंडित कर दिया गया है कि माँ को मनुष्य के रूप में देखना कठिन हो जाता है। उससे अपेक्षा की

जाती है कि वह हमेशा धैर्यवान रहे, हमेशा कोमल रहे, हमेशा समझदार रहे। यदि वह थक जाए, चिड़चिड़ी हो जाए, या अपने लिए समय चाहे, तो उसे अपराधबोध घेर लेता है—“क्या मैं अच्छी माँ नहीं हूँ?”

यह अपराधबोध समाज ने ही गढ़ा है।

माँ बनने के बाद स्त्री की पहचान अक्सर उसकी व्यक्तिगत उपलब्धियों से हटकर केवल मातृत्व तक सीमित हो जाती है। उसे उसके नाम से कम और “फलाँ की माँ” कहकर अधिक पुकारा जाता है। उसकी व्यक्तिगत आकांक्षाएँ धीरे-धीरे पृष्ठभूमि में चली जाती हैं। वह स्वयं भी अपने अस्तित्व को बच्चों के इर्द-गिर्द परिभाषित करने लगती है।

लेकिन क्या हर स्त्री माँ बनना चाहती है? क्या मातृत्व एक अनिवार्य भूमिका है? यह प्रश्न आज भी असहजता पैदा करता है। यदि कोई स्त्री मातृत्व को टालना चाहे या अस्वीकार करे, तो समाज उसे संदेह की दृष्टि से देख सकता है। जैसे मातृत्व ही स्त्रीत्व का प्रमाण हो।

यह धारणा भी स्त्री पर एक अदृश्य दबाव है।

माँ की भूमिका में एक और जटिलता है—“अच्छी माँ” की परिभाषा। यह परिभाषा समय के साथ बदलती रहती है, लेकिन दबाव स्थायी रहता है। उसे बच्चों की शिक्षा, स्वास्थ्य, व्यवहार, संस्कार—हर चीज़ की जिम्मेदारी दी जाती है। यदि बच्चा असफल हो, तो माँ को दोष दिया जाता है—“संस्कार नहीं दिए।” यदि बच्चा सफल हो, तो भी कहा जाता है—“माँ ने अच्छा पाला।” इस प्रकार सफलता और असफलता दोनों का केंद्र माँ बन जाती है।

यह स्थिति माँ को घर का भावनात्मक केंद्र तो बनाती है, लेकिन साथ ही दबाव का केंद्र भी।

मानसिक स्वास्थ्य का प्रश्न यहाँ अत्यंत महत्वपूर्ण है। प्रसव के बाद अवसाद (postpartum depression) जैसी स्थितियाँ वास्तविक हैं, लेकिन हमारे समाज में इन पर खुलकर चर्चा नहीं होती। माँ से अपेक्षा की जाती है कि वह तुरंत प्रसन्न और संतुष्ट दिखे। यदि वह भीतर से संघर्ष कर रही हो, तो भी उसे मुस्कुराना होता है। उसकी थकान को अक्सर सामान्य मान लिया जाता है—“माँ तो सब सह लेती है।”

यहाँ एक और पहलू है—एकल मातृत्व। यदि किसी कारणवश स्त्री अकेले बच्चे का पालन-पोषण कर रही हो, तो उसके सामने चुनौतियाँ और भी अधिक होती हैं। आर्थिक दबाव, सामाजिक तिरस्कार, सुरक्षा की चिंता—इन सबके बीच उसे दोहरी भूमिका निभानी पड़ती है। और समाज उससे वही अपेक्षा रखता है—निस्वार्थ त्याग।

माँ के रूप में स्त्री की शक्ति भी असाधारण है। वह बच्चों के भीतर संवेदनशीलता, साहस और नैतिकता के बीज बो सकती है। वह अगली पीढ़ी को आकार देती है। लेकिन यह शक्ति तभी स्वस्थ रहती है, जब उसे समर्थन मिले—भावनात्मक भी, सामाजिक भी, आर्थिक भी।

जब समर्थन के बजाय केवल अपेक्षा हो, तो वही शक्ति धीरे-धीरे बोझ में बदल सकती है।

यहाँ पूजा से परछाई तक का संबंध समझना महत्वपूर्ण है। जब माँ को इतना ऊँचा pedestal पर रख दिया जाता है कि वह कभी गलती नहीं कर सकती, तब उसके लिए सामान्य मनुष्य बने रहना कठिन हो जाता है। यदि वह किसी परिस्थिति में असफल हो जाए—चाहे वह आर्थिक संकट हो, वैवाहिक टूटन हो या सामाजिक दबाव—तो समाज उसे कठोर दृष्टि से देख सकता है। “माँ होकर ऐसा?”—यह वाक्य उसकी आत्मा को घायल कर सकता है।

और यदि परिस्थितियाँ उसे उस मोड़ पर ले जाएँ, जहाँ उसे अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए कठोर निर्णय लेने पड़ें—तो समाज उसके मातृत्व को भी प्रश्नों के घेरे में खड़ा कर देता है।

क्या हमने कभी यह स्वीकार किया है कि माँ भी इंसान है? उसे भी आराम चाहिए, पहचान चाहिए, संवाद चाहिए। वह केवल त्याग का स्रोत नहीं, संवेदनाओं का जीवित केंद्र है।

माँ को देवी कहना आसान है। लेकिन माँ को मनुष्य मानना कठिन है। क्योंकि मनुष्य को बराबरी देनी पड़ती है, उसकी इच्छाओं को सुनना पड़ता है, उसके संघर्षों को स्वीकार करना पड़ता है।

यदि हम सच में माँ का सम्मान करना चाहते हैं, तो हमें उसके त्याग की प्रशंसा से आगे बढ़कर उसके अधिकारों की रक्षा करनी होगी। उसे निर्णय लेने की स्वतंत्रता देनी होगी। उसे यह कहने का साहस देना होगा कि "मैं थक गई हूँ," और उस वाक्य को कमजोरी नहीं, ईमानदारी समझना होगा।

माँ के रूप में स्त्री को समाज ने ऊँचाई दी है। लेकिन यह ऊँचाई तभी सार्थक है, जब वह दबाव में न बदले। अन्यथा, वही pedestal एकांत और अपराधबोध का मंच बन सकता है।

पूजा से परछाई तक का सफर अक्सर वहीं शुरू होता है, जहाँ अपेक्षाएँ समर्थन से अधिक हो जाती हैं। यदि माँ को केवल त्याग

की मूर्ति बनाया जाएगा, तो वह भीतर से टूट सकती है। लेकिन यदि उसे बराबरी का सम्मान दिया जाएगा, तो वह शक्ति का वास्तविक स्रोत बनेगी।

अब हमारी यात्रा उस बिंदु की ओर बढ़ती है, जहाँ घर—जो सुरक्षा का प्रतीक होना चाहिए—कभी-कभी असुरक्षा का कारण बन जाता है।

अगला अध्याय:

“जब घर सुरक्षित नहीं रहता”

बहुत ठीक कहा आपने।

अब यह अध्याय केवल वैचारिक नहीं रहेगा—यह यथार्थ की कठोर जमीन पर उतरेगा।

अध्याय 6

“जब घर सुरक्षित नहीं रहता”

घर—यह शब्द अपने आप में सुरक्षा का पर्याय माना जाता है। बाहर की दुनिया भले ही कठोर हो, लेकिन घर को हमेशा शरणस्थली समझा गया है। परंतु क्या हर स्त्री के लिए घर सचमुच सुरक्षित होता है?

यह प्रश्न असुविधाजनक है, लेकिन आवश्यक भी।

घरेलू हिंसा केवल मारपीट नहीं होती। यह अपमान, नियंत्रण, आर्थिक प्रतिबंध, मानसिक यातना और यौन शोषण के रूप में भी सामने आती है। कई बार चोट शरीर पर नहीं, आत्मा पर लगती है—और वही घाव अधिक गहरे होते हैं।

1. अपमान का रोज़मर्रा का चेहरा

सीमा (परिवर्तित नाम) एक शिक्षित महिला थी। विवाह के बाद वह नौकरी करना चाहती थी, लेकिन पति और ससुराल ने कहा—“घर की बहू बाहर काम नहीं करेगी।” शुरुआत में उसे

लगा कि यह सामान्य पारिवारिक मतभेद है। लेकिन धीरे-धीरे बात अपमान में बदलने लगी। हर छोटी गलती पर ताने—“तुम्हें कुछ नहीं आता”, “तुम हमारे लायक नहीं”, “तुम्हारे मायके वालों ने कुछ नहीं सिखाया।”

यह मारपीट नहीं थी। लेकिन यह आत्मसम्मान की निरंतर हत्या थी। पाँच साल बाद सीमा ने महसूस किया कि वह स्वयं को पहचान नहीं पा रही है। उसे हर समय अपराधबोध होता था। वह सोचती—शायद गलती मेरी ही है।

यह मानसिक हिंसा थी—जो अदृश्य है, लेकिन विनाशकारी।

2. आर्थिक नियंत्रण: निर्भरता का जाल

रीना (परिवर्तित नाम) के पति अच्छी नौकरी में थे। वह गृहिणी थी। हर महीने खर्च के लिए उसे सीमित पैसे दिए जाते। यदि वह अतिरिक्त आवश्यकता बताए, तो पूछताछ होती—“इतना पैसा कहाँ खर्च कर दिया?” धीरे-धीरे पति ने उसका बैंक खाता भी अपने नियंत्रण में ले लिया।

रीना के पास अपना कोई आर्थिक निर्णय लेने की स्वतंत्रता नहीं थी। यदि वह मायके जाना चाहे, तो अनुमति लेनी पड़ती। यदि

बच्चों की पढ़ाई के लिए निर्णय लेना हो, तो अंतिम शब्द पति का होता।

आर्थिक निर्भरता हिंसा का सबसे सूक्ष्म रूप है। इसमें हाथ नहीं उठते, लेकिन आत्मनिर्भरता छीन ली जाती है। और जब आत्मनिर्भरता चली जाती है, तो आवाज़ भी कमजोर हो जाती है।

3. शारीरिक हिंसा: चुप्पी की दीवार

अंजली (परिवर्तित नाम) के विवाह को तीन वर्ष हुए थे। शुरुआत में सब सामान्य था। लेकिन पति का गुस्सा धीरे-धीरे हिंसा में बदल गया। छोटी-सी बात पर थप्पड़, फिर धक्का, फिर लात-घुँसे।

हर बार मारने के बाद पति माफी माँगता—“मुझसे गलती हो गई, गुस्से में था।” अंजली सोचती—शायद यह आखिरी बार है। लेकिन हिंसा का चक्र दोहराता रहा।

एक दिन पड़ोसियों ने चीखें सुनीं। दरवाज़ा बंद था। जब खोला गया, तो अंजली के शरीर पर चोट के निशान थे। पुलिस आई, लेकिन परिवार ने समझौता करा दिया—“घर की बात है, बाहर क्यों ले जाना?”

यह केवल एक घर की कहानी नहीं है। ऐसे अनगिनत घर हैं, जहाँ हिंसा की आवाज़ दीवारों के भीतर दबा दी जाती है।

4. सामाजिक दबाव: "घर बचाओ"

घरेलू हिंसा की सबसे बड़ी साथी है—चुप्पी। और इस चुप्पी को पोषित करता है समाज।

जब कोई महिला शिकायत करना चाहती है, तो अक्सर उसे यही सलाह मिलती है—"थोड़ा सह लो", "बच्चों का भविष्य देखो", "तलाक से बदनामी होगी।"

घर बचाने की जिम्मेदारी अक्सर स्त्री के कंधों पर डाल दी जाती है। जैसे घर केवल उसके धैर्य से चलता हो।

लेकिन क्या हिंसा सहकर घर सचमुच बचता है? या केवल दिखावा बचता है?

5. यौन हिंसा: अनकहा सच

विवाह के भीतर भी सहमति का प्रश्न उतना ही महत्वपूर्ण है। लेकिन हमारे समाज में यह विषय अभी भी असहजता से देखा

जाता है। कई महिलाएँ वैवाहिक जीवन में अपनी इच्छा के विरुद्ध संबंध बनाने को मजबूर होती हैं। वे इसे "कर्तव्य" समझकर चुप रहती हैं।

यह भी हिंसा है—भले ही इसे कानूनी बहसों में अलग-अलग तरीके से देखा जाए।

जब स्त्री की इच्छा का सम्मान नहीं होता, तो उसका अस्तित्व सीमित हो जाता है।

घरेलू हिंसा का मनोवैज्ञानिक प्रभाव

लगातार अपमान और हिंसा से स्त्री का आत्मविश्वास टूटता है। वह स्वयं को दोष देने लगती है। उसे लगता है—“शायद मैं ही पर्याप्त नहीं हूँ।”

यह आत्म-दोष (self-blame) उसे और गहरे जाल में फँसा देता है। वह सहायता माँगने से डरती है। उसे भविष्य का भय सताता है—“अगर मैं अलग हो गई तो कहाँ जाऊँगी?”

यहीं से पूजा से परछाई तक का सफर तेज हो सकता है।

यदि घर ही सुरक्षित न रहे, यदि सम्मान ही छिन जाए, यदि आर्थिक आधार ही न हो—तो स्त्री असुरक्षित परिस्थितियों में धकेली जा सकती है। कुछ महिलाएँ घर छोड़ देती हैं, लेकिन

समाज उन्हें तुरंत स्वीकार नहीं करता। रोजगार, आश्रय और सुरक्षा की कमी उन्हें और अधिक संकट में डाल सकती है।

कानून और वास्तविकता

घरेलू हिंसा के खिलाफ कानून मौजूद हैं। संरक्षण अधिनियम भी है। लेकिन कानून तक पहुँचना आसान नहीं है। सामाजिक दबाव, पुलिस प्रक्रिया, पारिवारिक समझौते—ये सब मिलकर शिकायत को कमजोर कर सकते हैं।

कानून आवश्यक है, लेकिन उससे अधिक आवश्यक है मानसिकता का परिवर्तन।

प्रश्न हमारे सामने

क्या हम बेटी को यह सिखाते हैं कि अन्याय सहना नहीं, बोलना है?

क्या हम बेटे को यह सिखाते हैं कि अधिकार का अर्थ नियंत्रण नहीं होता?

क्या हम विवाह को साझेदारी समझते हैं या स्वामित्व?

घरेलू हिंसा केवल व्यक्तिगत समस्या नहीं, सामाजिक संरचना का परिणाम है। जब तक हम शक्ति-संतुलन को बराबरी में नहीं बदलेंगे, तब तक घर की दीवारों के भीतर का अंधेरा बना रहेगा।

अंत में

घर को सुरक्षित बनाने के लिए केवल ताले और दीवारें पर्याप्त नहीं। सम्मान, संवाद और बराबरी की नींव आवश्यक है।

जब स्त्री घर में सुरक्षित महसूस करेगी, तभी वह बाहर की दुनिया में भी आत्मविश्वास से चल सकेगी।

और यदि घर ही उसे परछाई बना दे, तो फिर बाहर की दुनिया में उसके लिए रोशनी कहाँ बचेगी?

अब हम उस अध्याय की ओर बढ़ेंगे जहाँ यह असुरक्षा घर की सीमा से निकलकर बाजार और व्यवस्था के जाल में प्रवेश करती है—

अगला अध्याय: "देह का बाज़ार: इतिहास और वर्तमान"

बहुत ठीक...

अब हम उस अध्याय में प्रवेश कर रहे हैं जहाँ प्रश्न सबसे कठिन हो जाते हैं। यहाँ भावनाएँ ही नहीं, इतिहास, अर्थव्यवस्था, सत्ता और बाज़ार—सब एक साथ खड़े दिखाई देते हैं।

अध्याय 7

“देह का बाज़ार: इतिहास और वर्तमान”

जब हम “देह का बाज़ार” कहते हैं, तो शब्द असहज कर देते हैं। लेकिन यह असहजता ही हमें सच के करीब ले जाती है। क्योंकि यह बाज़ार अचानक नहीं बना। यह इतिहास, सत्ता, पितृसत्ता, युद्ध, गरीबी, और उपभोक्तावाद की लंबी प्रक्रिया से निर्मित हुआ है।

स्त्री की देह को नियंत्रित करने की प्रवृत्ति जितनी पुरानी है, उतनी ही पुरानी है उसका व्यापारिक उपयोग। प्राचीन समाजों में भी ऐसी व्यवस्थाएँ थीं जहाँ स्त्रियों को राजदरबारों, सामंती संरचनाओं या विशेष सामाजिक वर्गों में सीमित भूमिकाओं में रखा जाता था। कहीं उन्हें नर्तकी कहा गया, कहीं गणिका, कहीं देवदासी। शब्द अलग-अलग थे, पर नियंत्रण समान था—देह पर अधिकार समाज का, इच्छा पर अधिकार सत्ता का।

इतिहास की परतें बताती हैं कि कई बार स्त्री का देह-व्यापार सीधे शोषण का परिणाम था, तो कई बार सामाजिक-आर्थिक संरचना का। युद्धों के बाद विस्थापन हुआ, गरीबी बढ़ी, संरक्षण तंत्र टूटे—और स्त्रियाँ सबसे पहले असुरक्षित हुईं। जिस समाज

में आर्थिक अवसर सीमित हों, वहाँ देह ही कई बार "संसाधन" में बदल दी जाती है।

लेकिन क्या यह केवल अतीत की बात है?

आज का "देह बाज़ार" कहीं अधिक जटिल है। यह केवल किसी अंधेरी गली तक सीमित नहीं। यह डिजिटल है, नेटवर्क आधारित है, संगठित है। कॉल सर्विस, एस्कॉर्ट नेटवर्क, ऑनलाइन प्लेटफॉर्म—आधुनिक तकनीक ने इसे नया रूप दिया है। अब ग्राहक और विक्रेता के बीच सीधा संपर्क संभव है। पहचान छिपाना आसान है। पैसे का लेन-देन डिजिटल हो गया है।

यह परिवर्तन केवल तकनीकी नहीं, सामाजिक भी है।

आज का उपभोक्तावादी समाज "इच्छा" को उत्पाद में बदल देता है। हर चीज़ बिकाऊ है—समय, कौशल, भावनाएँ—तो देह

क्यों नहीं? यह तर्क सुनने में क्रूर लगता है, लेकिन बाज़ार की भाषा यही है। माँग है, तो आपूर्ति होगी।

यहीं एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है—माँग कौन पैदा करता है?

देह का बाज़ार केवल उन स्त्रियों से नहीं चलता जो उसमें हैं। वह उन पुरुषों से भी चलता है जो ग्राहक हैं। लेकिन समाज की नैतिकता अक्सर केवल स्त्री पर केंद्रित होती है। जो बेचती है, वह बदनाम; जो खरीदता है, वह अदृश्य। यह नैतिक असंतुलन बाज़ार को और मजबूती देता है।

मजबूरी की कहानियाँ

सविता (परिवर्तित नाम) एक छोटे कस्बे से महानगर आई थी। घर की आर्थिक स्थिति खराब थी। पिता बीमार, भाई बेरोज़गार। एक परिचित ने नौकरी का वादा किया—“रिसेप्शन का काम है।” शहर पहुँचने के बाद पासपोर्ट और पहचान पत्र ले लिए गए। धीरे-धीरे उसे समझ में आया कि यह नौकरी नहीं, जाल है।

भागने की कोशिश की, लेकिन धमकी मिली—“घर वालों को बता देंगे।”

मानव तस्करी का नेटवर्क आज भी सक्रिय है। गरीब परिवारों की बेटियों को नौकरी, शादी, फिल्म, मॉडलिंग के नाम पर फँसाया जाता है। सीमा पार तस्करी भी होती है। कई महिलाएँ कर्ज के जाल में बाँध दी जाती हैं—जिसे “ऋण बंधन” कहा जा सकता है। जब तक पैसा नहीं चुकता, निकलने की अनुमति नहीं।

यह केवल अपराध नहीं—व्यवस्था की विफलता है।

क्या हर कहानी मजबूरी है?

यह प्रश्न भी जटिल है। कुछ महिलाएँ आर्थिक कारणों से स्वेच्छा से इस क्षेत्र में प्रवेश करती हैं। उनका तर्क है—कम समय में अधिक आय। लेकिन क्या यह निर्णय पूर्ण स्वतंत्रता का परिणाम है? या सीमित विकल्पों का?

यदि किसी स्त्री के पास शिक्षा, सुरक्षित नौकरी, सामाजिक समर्थन के पर्याप्त अवसर हों—तो क्या वह यही रास्ता चुनती?

यह प्रश्न सरल उत्तर नहीं देता। लेकिन यह स्पष्ट है कि विकल्पों की कमी निर्णय को प्रभावित करती है।

कानून और यथार्थ

कई देशों में देह-व्यापार को वैध या अवैध घोषित करने पर बहस होती रही है। हमारे यहाँ भी कानून मौजूद हैं जो तस्करी, शोषण और दलाली को अपराध मानते हैं। लेकिन वास्तविकता यह है कि कानून और जमीन के बीच दूरी है।

छापे पड़ते हैं, गिरफ्तारी होती है—लेकिन अक्सर पकड़ी जाने वाली महिलाएँ ही होती हैं। नेटवर्क के संचालक, वित्तपोषक और बड़े ग्राहक बच निकलते हैं। यह न्याय का असंतुलन है।

बाज़ार और मीडिया

फिल्मों और वेब सीरीज़ ने देह-व्यापार को कभी ग्लैमर, कभी त्रासदी के रूप में प्रस्तुत किया है। कई बार कहानी संवेदनशील होती है, लेकिन कई बार यह रोमांटिक बनाकर पेश की जाती है। इससे समाज की धारणा प्रभावित होती है।

जब तक हम इसे केवल सनसनी की तरह देखेंगे, तब तक इसके पीछे की सामाजिक जटिलताओं को नहीं समझ पाएँगे।

देह का बाज़ार और सम्मान का प्रश्न

सबसे कठिन प्रश्न यही है—क्या देह-व्यापार में संलग्न स्त्री सम्मान की अधिकारी है?

यदि हम स्त्री को केवल उसके पेशे से परिभाषित करेंगे, तो उत्तर नकारात्मक होगा। लेकिन यदि हम उसे मनुष्य के रूप में देखेंगे—तो उत्तर बदल जाएगा।

सम्मान शर्तों पर आधारित नहीं होना चाहिए। यदि समाज उसे विकल्प देने में असफल रहा है, तो उसे दोष देना नैतिक रूप से उचित नहीं।

पूजा से परछाई तक का संबंध

जब स्त्री देवी थी—वह pedestal पर थी। जब वह देह बाज़ार में है—वह परछाई में है। दोनों स्थितियों में उसका वास्तविक अस्तित्व दबा हुआ है।

एक में उसे ऊँचा उठाकर नियंत्रित किया गया।

दूसरे में उसे गिराकर नियंत्रित किया गया।

दोनों में नियंत्रण समान है।

अंत में

देह का बाज़ार केवल अपराध की कहानी नहीं, असमानता की कहानी है। यह उस समाज का प्रतिबिंब है जहाँ अक्सर असमान हैं, सुरक्षा असमान है, और नैतिकता चयनात्मक है।

यदि हम सच में परिवर्तन चाहते हैं, तो हमें केवल बाज़ार को नहीं, उसकी जड़ों को देखना होगा—गरीबी, शिक्षा की कमी, लैंगिक असमानता, और सामाजिक चुप्पी।

यात्रा अभी बाकी है...

अब हम उस परत को खोलेंगे जहाँ छल, तस्करी और धोखे का जाल और स्पष्ट दिखाई देता है—

अगला अध्याय: "मजबूरी, तस्करी और छल"

आपकी अपेक्षा बिल्कुल उचित है।

यह अध्याय केवल विश्लेषण नहीं होगा—यह उन कहानियों की आवाज़ भी बनेगा, जो अक्सर दबा दी जाती हैं।

अध्याय 8

“मजबूरी, तस्करी और छल: परछाई की ओर धकेलते रास्ते”

देह का बाज़ार अचानक नहीं बनता। वहाँ पहुँचने से पहले कई मोड़ आते हैं—गरीबी, बेरोज़गारी, पारिवारिक टूटन, धोखा, लालच, और सबसे खतरनाक—विश्वास का दुरुपयोग।

स्त्री अक्सर “गलत रास्ता चुनती” नहीं; कई बार उसे धकेला जाता है।

1. नौकरी का सपना, जाल की हकीकत

मीना (परिवर्तित नाम) पूर्वी भारत के एक गाँव से थी। घर की आर्थिक स्थिति कमजोर थी। पिता खेतिहर मजदूर, माँ बीमार। एक स्थानीय एजेंट ने कहा—“शहर में होटल की नौकरी है, महीने के 12,000 मिलेंगे।”

परिवार ने उधार लेकर उसे भेज दिया। शहर पहुँचते ही उसका फोन ले लिया गया। उसे एक कमरे में रखा गया, जहाँ पहले से दो और लड़कियाँ थीं। तीन दिन बाद उसे बताया गया—“अब तुम्हें काम करना है।”

जब उसने विरोध किया, तो कहा गया—“तुम्हारे घर का पता हमारे पास है।”

मीना के पास दो ही रास्ते थे—चुप रहना या भागने की कोशिश करना। उसने एक ग्राहक की मदद से भागने की कोशिश की और पुलिस तक पहुँची। लेकिन कई लड़कियाँ वहाँ से कभी वापस नहीं लौट पाईं।

यह कहानी अकेली नहीं है। रोजगार का झांसा मानव तस्करों का सबसे सामान्य माध्यम है।

2. शादी का वादा, बेच दिए जाने की साजिश

शालू (परिवर्तित नाम) की मुलाकात एक युवक से सोशल मीडिया पर हुई। युवक ने खुद को व्यवसायी बताया। कुछ

महीनों की बातचीत के बाद उसने शादी का प्रस्ताव रखा। घर वालों को मनाकर शालू उसके साथ चली गई।

शादी का कोई वैधानिक प्रमाण नहीं हुआ। कुछ दिनों बाद वह युवक गायब हो गया। शालू को दूसरे शहर ले जाकर एक दलाल के हवाले कर दिया गया।

यह "फर्जी विवाह तस्करी" का पैटर्न है। कई बार गरीब परिवार अपनी बेटियों की शादी दूसरे राज्यों में कर देते हैं, जहाँ उन्हें बाद में बेच दिया जाता है।

विश्वास—जो संबंधों की नींव है—यहाँ हथियार बन जाता है।

3. कर्ज़ का जाल

रुखसाना (परिवर्तित नाम) के पति की अचानक मृत्यु हो गई। दो छोटे बच्चे। कोई स्थायी आय नहीं। एक महिला ने मदद की पेशकश की—“मैं तुम्हें काम दिला दूँगी।”

पहले कुछ महीनों तक उसे घरेलू काम मिला। फिर धीरे-धीरे कर्ज़ का हिसाब बढ़ता गया—“रहने का खर्च, खाने का खर्च, कपड़ों का खर्च।”

जब तक उसे एहसास हुआ, वह "कर्ज़" के नाम पर बंधन में फँस चुकी थी। कहा गया—“जब तक पैसा नहीं चुकाओगी, बाहर नहीं जा सकती।”

यह ऋण-बंधन तस्करी का सूक्ष्म रूप है। कई बार कागज़ी समझौते नहीं होते, केवल मौखिक दबाव होता है।

4. सीमा पार तस्करी

नेपाल, बांग्लादेश और भारत के बीच कई बार सीमापार तस्करी के मामले सामने आते रहे हैं। गरीब परिवारों की लड़कियों को बेहतर जीवन का सपना दिखाकर महानगरों में लाया जाता है।

कई बार उम्र भी बदल दी जाती है। नाबालिग लड़कियों को वयस्क बताकर नेटवर्क में शामिल कर लिया जाता है।

यह केवल व्यक्तिगत अपराध नहीं, संगठित नेटवर्क का हिस्सा है।

5. परिवार के भीतर का शोषण

सबसे असहज उदाहरण वही है, जब शोषण घर के भीतर से शुरू होता है।

किरण (परिवर्तित नाम) को उसके सौतेले पिता ने एक "परिचित" के पास भेजा, यह कहकर कि वह उसे काम दिलाएगा। बाद में पता चला कि यह सौदा पहले से तय था।

जब परिवार ही सुरक्षा न दे सके, तो स्त्री के पास कौन-सा आश्रय बचता है?

6. शहरी ग्लैमर और सोशल मीडिया का जाल

आज तस्करी केवल पारंपरिक नेटवर्क से नहीं होती। इंस्टाग्राम, व्हाट्सएप, टेलीग्राम जैसे प्लेटफॉर्म भी माध्यम बन चुके हैं।

"मॉडलिंग असाइनमेंट", "इवेंट होस्टिंग", "पार्टी कंपैनियन"— इन नामों के पीछे कभी-कभी शोषण छिपा होता है।

कुछ लड़कियाँ स्वेच्छा से प्रवेश करती हैं, लेकिन कई बार उन्हें पूरी जानकारी नहीं होती कि वे किस जाल में जा रही हैं।

मानसिक और सामाजिक प्रभाव

तस्करी का शिकार हुई महिलाओं के सामने केवल शारीरिक नहीं, मानसिक संघर्ष भी होता है। उन्हें अपराधबोध, शर्म और भय घेर लेते हैं।

समाज अक्सर उन्हें पीड़िता नहीं, दोषी की तरह देखता है। पुनर्वास के बाद भी सामाजिक स्वीकृति कठिन होती है।

कई महिलाएँ अपने गाँव या परिवार में वापस नहीं जा पातीं, क्योंकि "बदनामी" का डर होता है।

क्या केवल कानून काफी है?

मानव तस्करी के खिलाफ कड़े कानून हैं। पुलिस कार्रवाई होती है, छापे पड़ते हैं। लेकिन जब तक गरीबी, बेरोज़गारी और लैंगिक असमानता बनी रहेगी, जाल नए रूप में लौटता रहेगा।

रोकथाम केवल दंड से नहीं, अवसर से संभव है—शिक्षा, कौशल, रोज़गार, और सामाजिक समर्थन से।

पूजा से परछाई तक

जब एक लड़की को बचपन में देवी कहा गया था, तब शायद किसी ने नहीं सोचा होगा कि वह ऐसे जाल में फँस सकती है।

लेकिन जब अवसर सीमित हों, सुरक्षा कमजोर हो, और विश्वास का दुरुपयोग हो—तो सफर तेजी से बदल जाता है।

पूजा से परछाई तक की दूरी कभी-कभी केवल एक धोखे जितनी होती है।

अंत में

मजबूरी, तस्करी और छल—ये तीनों मिलकर स्त्री को उस अंधरे मोड़ पर पहुँचा सकते हैं, जहाँ से वापसी कठिन होती है।

लेकिन हर कहानी निराशा की नहीं। कई महिलाएँ साहस से बाहर निकलती हैं। एनजीओ, सामाजिक कार्यकर्ता और कानूनी सहायता समूह उनकी मदद करते हैं। पुनर्वास संभव है—यदि समाज हाथ बढ़ाए।

अब हम उस भूमिका की ओर बढ़ेंगे, जहाँ रोशनी और अंधेरा साथ-साथ चलते हैं—

अगला अध्याय: "बार बाला: रोशनी के पीछे की अंधेरी कहानी"

आगे बढ़ें?

बहुत अच्छा...

अब हम उस दुनिया में प्रवेश कर रहे हैं जहाँ रोशनी बहुत है, संगीत बहुत है, तालियाँ बहुत हैं—लेकिन भीतर एक अजीब-सी खामोशी भी है।

अध्याय 9

“बार बाला: रोशनी के पीछे की अंधेरी कहानी”

रात के दस बजते ही शहर का एक हिस्सा जागता है। रोशनी से जगमगाते हॉल, तेज़ संगीत, चमकदार परिधान, और मंच पर नृत्य करती स्त्रियाँ। दर्शकों की तालियाँ, सीटियों की आवाज़, नोटों की बरसात—सब कुछ बाहर से उत्सव जैसा लगता है।

लेकिन क्या यह सचमुच उत्सव है? या यह एक मंच है, जहाँ मुस्कान पेशे का हिस्सा है और आँसू निजी रह जाते हैं?

बार बालाओं की दुनिया को अक्सर दो छवियों में देखा गया है— या तो ग्लैमर के रूप में, या नैतिक पतन के प्रतीक के रूप में। लेकिन सच्चाई इन दोनों के बीच कहीं है।

1. रानी की कहानी: मंच पर मुस्कान, भीतर संघर्ष

रानी (परिवर्तित नाम) का विवाह 18 वर्ष की उम्र में हुआ। पति शराबी था और अक्सर मारपीट करता था। दो साल बाद वह घर छोड़कर मायके आ गई। लेकिन मायके की आर्थिक स्थिति कमजोर थी।

एक परिचित महिला ने उसे शहर ले जाकर “डांस का काम” दिलाया। रानी ने कहा—“मैं नाच सकती हूँ, लेकिन मैं गलत काम नहीं करूँगी।”

शुरुआत में उसने केवल मंच पर नृत्य किया। उसे रोज़ाना नकद पैसा मिलता था—जो उसके लिए पहले कभी संभव नहीं था। उसने अपने बच्चों की पढ़ाई शुरू कराई।

लेकिन मंच के पीछे की दुनिया अलग थी। ग्राहकों की निजी माँगें, मैनेजर का दबाव, पुलिस की छापेमारी का डर। हर रात उसे संतुलन साधना पड़ता था—सम्मान और आवश्यकता के बीच।

रानी कहती है—“लोग समझते हैं हम केवल पैसे के लिए हँसते हैं। लेकिन कोई नहीं जानता कि मैं अपने बच्चों के लिए हँसती हूँ।”

2. कानून और वास्तविकता

कुछ राज्यों में डांस बारों पर प्रतिबंध लगाए गए। तर्क था—यह अनैतिक गतिविधियों को बढ़ावा देता है। लेकिन प्रतिबंध के बाद क्या हुआ?

कई महिलाएँ, जो मंच पर नृत्य कर जीविका कमा रही थीं, अचानक बेरोज़गार हो गईं। कुछ ने दूसरे राज्यों का रुख किया। कुछ भूमिगत नेटवर्क में चली गईं।

यह प्रश्न जटिल है—क्या प्रतिबंध समाधान है? या सुरक्षित और नियंत्रित वातावरण बेहतर विकल्प है?

3. ग्लैमर का भ्रम

सोशल मीडिया और फिल्मों ने बार डांस को कभी "फास्ट लाइफ" के रूप में दिखाया है। चमकीले कपड़े, उँची एड़ी, तेज़ संगीत—यह सब आकर्षक दिखता है।

लेकिन इस चमक के पीछे अस्थिर आय, असुरक्षा और सामाजिक तिरस्कार है।

पूजा (परिवर्तित नाम) ने कॉलेज छोड़कर बार जाँइन किया। उसने सोचा—“जल्दी पैसा मिलेगा।” कुछ महीनों तक सब ठीक चला। फिर ग्राहकों की अपेक्षाएँ बढ़ीं।

उसने कहा—“जब तक मैं केवल नाच रही थी, तब तक ठीक था। लेकिन धीरे-धीरे ‘सिर्फ नाच’ काफी नहीं रहा।”

यह धीरे-धीरे बदलती सीमा कई बार खतरनाक मोड़ बन जाती है।

4. सामाजिक दोहरापन

बार में बैठा ग्राहक अक्सर सम्मानित व्यक्ति होता है—व्यवसायी, अधिकारी, नेता, कर्मचारी। वह तालियाँ बजाता है, नोट उछालता है।

लेकिन वही व्यक्ति दिन में बार बालाओं को “गिरा हुआ” कह सकता है।

यह दोहरापन समाज की नैतिक संरचना को उजागर करता है।

जो मंच पर है, वह बदनाम।

जो कुर्सी पर है, वह सुरक्षित।

5. क्या हर बार बाला देह-व्यापार में जाती है?

यह एक आम धारणा है कि बार डांस और देह-व्यापार समान हैं। लेकिन वास्तविकता विविध है। कुछ महिलाएँ केवल नृत्य तक सीमित रहती हैं। कुछ दबाव में आगे बढ़ती हैं।

यहाँ agency का प्रश्न जटिल है।

क्या वह स्वतंत्र है?

या आर्थिक मजबूरी उसे सीमित विकल्प देती है?

6. मानसिक और सामाजिक असर

बार में काम करने वाली महिलाओं को सामाजिक स्वीकृति कम मिलती है। किराए पर घर लेना मुश्किल, बच्चों को स्कूल में सवालों का सामना, परिवार में दूरी।

सोनिया (परिवर्तित नाम) ने बताया—“मेरी बेटी को स्कूल में कहा गया कि तुम्हारी माँ बार में नाचती है। उस दिन मैं टूट गई।”

सम्मान का प्रश्न केवल व्यक्तिगत नहीं, पीढ़ियों तक असर डाल सकता है।

7. पुनर्वास और विकल्प

कुछ संगठनों ने बार बालाओं के लिए कौशल प्रशिक्षण कार्यक्रम शुरू किए—ब्यूटी पार्लर, सिलाई, खाना पकाना, छोटे व्यवसाय।

लेकिन पुनर्वास आसान नहीं। जो महिला एक रात में हजारों कमा रही थी, वह न्यूनतम वेतन पर लौटने को तैयार नहीं होती। आर्थिक अंतर बड़ा है।

इसलिए समाधान केवल नैतिक भाषण नहीं, आर्थिक संरचना में बदलाव है।

पूजा से परछाई तक का मंच

बार बाला का जीवन इस पुस्तक के शीर्षक का जीवंत प्रतीक है।

मंच पर वह रोशनी में है—तालियों के बीच।

मंच से उतरते ही वह परछाई में है—सवालों के बीच।

समाज उसे न पूरी तरह स्वीकार करता है, न पूरी तरह त्यागता है। वह एक अस्थायी रोशनी में जीती है।

अंतिम प्रश्न

क्या हम बार बाला को केवल उसके पेशे से पहचानेंगे?

या उसके भीतर की माँ, बेटी, स्त्री को भी देखेंगे?

यदि समाज उसे केवल परछाई में रखेगा, तो वह कभी प्रकाश में नहीं आ पाएगी।

सम्मान का अर्थ है—व्यक्ति को उसके सम्पूर्ण संदर्भ में देखना। न केवल उसके मंच पर, बल्कि उसके संघर्ष में भी।

अब हम उस सबसे असहज प्रश्न की ओर बढ़ेंगे—

“ग्राहक कौन है?”

क्योंकि बाज़ार की कहानी अधूरी है, यदि हम केवल विक्रेता को देखें।

आगे बढ़ें?

बहुत ठीक...

अब हम उस प्रश्न की ओर बढ़ते हैं जिसे समाज अक्सर टाल देता है। अब तक हमने उन स्त्रियों की चर्चा की, जो मंच पर थीं, जाल में फँसी थीं, या बाज़ार में दिखाई देती थीं। लेकिन बाज़ार अकेले नहीं चलता।

हर बाज़ार के पीछे खरीदार होता है।

अध्याय 10

“ग्राहक कौन है?”

जब भी देह-व्यापार या बार संस्कृति की चर्चा होती है, उँगली लगभग हमेशा स्त्री की ओर उठती है। प्रश्न पूछे जाते हैं—“वह वहाँ क्यों है?”, “उसने यह रास्ता क्यों चुना?”

लेकिन बहुत कम बार यह पूछा जाता है—“वहाँ कौन जाता है?”

यह अध्याय उसी मौन पर प्रश्न है।

1. अदृश्य चेहरा

ग्राहक का चेहरा भीड़ में खो जाता है। वह किसी भी वर्ग का हो सकता है—व्यवसायी, सरकारी कर्मचारी, छात्र, विवाहित पुरुष, अविवाहित युवक, प्रभावशाली व्यक्ति।

दिन में वह समाज का सम्मानित सदस्य होता है। रात में वह बाज़ार का हिस्सा।

लेकिन उसके चरित्र पर सार्वजनिक चर्चा नहीं होती। समाज उसकी पहचान को गोपनीय रखता है, जबकि स्त्री की पहचान बदनामी का विषय बन जाती है।

यह नैतिक असंतुलन है।

2. माँग और आपूर्ति का सिद्धांत

अर्थशास्त्र कहता है—जहाँ माँग होगी, वहाँ आपूर्ति होगी।

यदि ग्राहक न हों, तो बाज़ार टिक नहीं सकता।

लेकिन सामाजिक विमर्श में हम आपूर्ति पर चर्चा करते हैं, माँग पर नहीं।

यह वैसा ही है जैसे हम धुँएँ पर चर्चा करें, आग पर नहीं।

3. विवाहित ग्राहक: दोहरा जीवन

अरुण (परिवर्तित नाम) एक मध्यमवर्गीय परिवार से था। पत्नी, दो बच्चे, स्थिर नौकरी। बाहर से सब व्यवस्थित।

लेकिन वह नियमित रूप से बार और एस्कॉर्ट सेवाओं का उपयोग करता था। उसके तर्क थे—“यह केवल शारीरिक जरूरत है”, “घर की जिम्मेदारियों से अलग दुनिया चाहिए।”

उसकी पत्नी को कुछ पता नहीं था।

यह कहानी केवल एक व्यक्ति की नहीं। कई पुरुष अपनी निजी इच्छाओं को सामाजिक पहचान से अलग कर लेते हैं।

लेकिन क्या यह अलगाव वास्तव में संभव है?

क्या यह विश्वासघात नहीं?

क्या यह उस पत्नी के प्रति अन्याय नहीं, जो समर्पण की अपेक्षा निभा रही है?

4. शक्ति और पैसे का प्रभाव

कुछ ग्राहक केवल इच्छा से नहीं, शक्ति के प्रदर्शन से भी आते हैं।

नोट उछालना केवल मनोरंजन नहीं—यह प्रभुत्व का संकेत भी हो सकता है।

“मैं खरीद सकता हूँ”—यह भावना कई बार पुरुष अहंकार से जुड़ी होती है।

यहाँ देह केवल शरीर नहीं, शक्ति संतुलन का प्रतीक बन जाती है।

5. युवा ग्राहक और डिजिटल संस्कृति

ऑनलाइन प्लेटफॉर्म ने युवाओं के लिए भी यह दुनिया सुलभ बना दी है। कुछ कॉलेज छात्र “अनुभव” के नाम पर प्रवेश करते हैं।

वे इसे रोमांच मानते हैं। लेकिन क्या वे समझते हैं कि उनके भुगतान से एक नेटवर्क मजबूत होता है, जिसमें कई बार शोषण छिपा होता है?

डिजिटल गुमनामी ने जिम्मेदारी की भावना को कमजोर किया है।

6. क्या केवल पुरुष?

यद्यपि बहुसंख्यक ग्राहक पुरुष होते हैं, लेकिन कुछ मामलों में महिलाएँ भी उपभोक्ता हो सकती हैं।

यह बताता है कि मुद्दा केवल लिंग का नहीं, बल्कि शक्ति, इच्छा और बाज़ार का है।

लेकिन सामाजिक संरचना में पुरुष सत्ता प्रमुख होने के कारण माँग का स्वरूप भी उसी दिशा में अधिक दिखाई देता है।

7. नैतिकता का असंतुलन

सबसे बड़ा प्रश्न यही है—नैतिकता का बोझ एकतरफा क्यों?

यदि देह-व्यापार को अनैतिक कहा जाता है, तो अनैतिकता केवल बेचने में क्यों दिखाई देती है?

खरीदने वाला क्यों सुरक्षित है?

समाज में कई बार ग्राहकों के नाम उजागर नहीं किए जाते। उन्हें बचाने की कोशिश होती है।

यह संरचनात्मक पक्षपात है।

8. क्या समाधान ग्राहक की जिम्मेदारी में है?

कुछ देशों में “नॉर्डिक मॉडल” अपनाया गया, जहाँ विक्रेता को अपराधी नहीं, बल्कि ग्राहक को दंडित किया जाता है।

इस मॉडल का तर्क है—यदि माँग कम होगी, तो शोषण घटेगा।

लेकिन यह बहस जटिल है।

प्रश्न केवल दंड का नहीं, मानसिकता का है।

यदि पुरुष को बचपन से यह सिखाया जाए कि स्त्री वस्तु नहीं, व्यक्ति है—तो माँग की प्रकृति बदल सकती है।

पूजा से परछाई तक: खरीदार की भूमिका

जब एक स्त्री परछाई बनती है, तो उसकी छाया किसी रोशनी से बनती है।

वह रोशनी कौन है?

वह ग्राहक है।

यदि वह न हो, तो छाया भी नहीं होगी।

यह समझना आवश्यक है कि देह का बाज़ार केवल स्त्रियों का विषय नहीं, पुरुषों की जिम्मेदारी का भी विषय है।

जब तक खरीदार अपनी भूमिका नहीं समझेगा, परिवर्तन अधूरा रहेगा।

अंतिम प्रश्न

क्या हम अपने बेटों को यह सिखा रहे हैं कि इच्छा का अर्थ अधिकार नहीं?

क्या हम उन्हें सिखा रहे हैं कि स्त्री का सम्मान उसके अस्तित्व से जुड़ा है, न कि उसके व्यवहार से?

क्या हम अपने समाज में इस दोहरे जीवन पर ईमानदार चर्चा कर सकते हैं?

यदि उत्तर नहीं है, तो पूजा से परछाई तक का सफर जारी रहेगा।

अब हम उस अध्याय की ओर बढ़ेंगे जहाँ यह नैतिक असंतुलन और स्पष्ट होगा—

“समाज की चयनात्मक नैतिकता”

आगे बढ़ें?

बहुत ठीक...

अब हम उस बिंदु पर पहुँच रहे हैं जहाँ पूरा समाज आईने में खड़ा दिखाई देता है। यहाँ प्रश्न किसी एक स्त्री, एक ग्राहक या एक परिवार का नहीं—हम सबका है।

अध्याय 11

“समाज की चयनात्मक नैतिकता”

नैतिकता—यह शब्द सुनते ही हमें नियम, मर्यादा, संस्कार और आदर्श याद आते हैं। हर समाज अपनी नैतिक सीमाएँ तय करता है। लेकिन क्या ये सीमाएँ सब पर समान रूप से लागू होती हैं? या फिर ये चयनात्मक हैं—कुछ के लिए कठोर, कुछ के लिए लचीली?

स्त्री के संदर्भ में यह चयनात्मकता सबसे स्पष्ट दिखाई देती है।

1. “अच्छी” और “बुरी” स्त्री की परिभाषा

समाज ने स्त्री को दो स्पष्ट श्रेणियों में बाँट रखा है—

अच्छी स्त्री और बुरी स्त्री।

अच्छी स्त्री वह है जो मर्यादित है, समर्पित है, नियंत्रित है, परिवार केंद्रित है।

बुरी स्त्री वह है जो सीमाओं से बाहर दिखती है—चाहे वह अपनी इच्छा व्यक्त करे, विवाह तोड़े, या बाज़ार में खड़ी हो।

यह विभाजन इतना गहरा है कि कई बार स्त्री स्वयं भी उसी कसौटी पर स्वयं को आँकने लगती है।

लेकिन यह परिभाषा किसने तय की?

और क्यों केवल स्त्री के लिए इतनी कठोर?

2. कपड़ों से चरित्र तक

एक साधारण उदाहरण—यदि कोई महिला आधुनिक परिधान पहनती है, तो उसके चरित्र पर टिप्पणी हो सकती है।

“ऐसे कपड़े पहनोगी तो लोग क्या कहेंगे?”

यह वाक्य केवल सलाह नहीं, नियंत्रण का उपकरण है।

लेकिन क्या कपड़े किसी के चरित्र का प्रमाण हैं?

यह चयनात्मक नैतिकता का हिस्सा है—जहाँ पुरुष की पोशाक स्वतंत्रता है, और स्त्री की पोशाक बयान बन जाती है।

3. तलाक और सामाजिक दृष्टि

यदि विवाह टूटता है, तो अक्सर प्रश्न स्त्री से पूछा जाता है—
“तुमने घर क्यों नहीं बचाया?”

पुरुष के निर्णय को व्यक्तिगत माना जाता है; स्त्री के निर्णय को नैतिक विफलता।

यहाँ भी संतुलन नहीं है।

समाज विवाह को संस्था मानता है, लेकिन उस संस्था के भीतर असमानता को नजरअंदाज कर देता है।

4. देह-व्यापार में नैतिकता का असंतुलन

जब देह-व्यापार की बात आती है, तो नैतिकता का पूरा बोझ स्त्री पर डाल दिया जाता है।

“वह क्यों कर रही है?”

लेकिन यह प्रश्न कम ही पूछा जाता है—“वह क्यों खरीद रहा है?”

चयनात्मकता यहीं स्पष्ट हो जाती है।

नैतिकता का दायरा आधा हो जाता है।

5. मीडिया और समाज का रवैया

समाचारों में अक्सर पीड़िता की पहचान को अप्रत्यक्ष रूप से उजागर कर दिया जाता है।

उसका गाँव, उसकी पृष्ठभूमि, उसकी निजी जिंदगी—सब सार्वजनिक चर्चा का विषय बन जाते हैं।

लेकिन आरोपी या ग्राहक का विवरण सीमित रहता है।

यह असंतुलन केवल रिपोर्टिंग का नहीं, सामाजिक मानसिकता का संकेत है।

6. परिवार के भीतर नैतिकता

परिवार अक्सर बेटियों को मर्यादा का पाठ पढ़ाता है, लेकिन बेटों को स्वतंत्रता का।

बेटी के लिए समय सीमा, प्रश्न, निगरानी।

बेटे के लिए विश्वास, खुलापन।

यह दोहरा मानदंड बचपन से स्थापित हो जाता है।

और वही आगे चलकर सामाजिक व्यवहार का हिस्सा बनता है।

7. क्या नैतिकता बदल सकती है?

नैतिकता स्थायी नहीं होती; वह समय और समाज के साथ बदलती है।

एक समय था जब विधवा का पुनर्विवाह अनैतिक माना जाता था। आज वह सामान्य है।

एक समय था जब स्त्री की शिक्षा पर प्रश्न उठते थे। आज उसे अधिकार माना जाता है।

तो क्या स्त्री के अस्तित्व की परिभाषा भी बदल सकती है?

हाँ—यदि समाज ईमानदारी से आत्ममंथन करे।

पूजा से परछाई तक का नैतिक चक्र

जब स्त्री आदर्श के भीतर रहती है, तो वह पूजा जाती है।

जैसे ही वह आदर्श से बाहर जाती है, वह परछाई बना दी जाती है।

यह परिवर्तन नैतिकता की कसौटी पर होता है—लेकिन यह कसौटी असमान है।

यदि सम्मान सशर्त होगा, तो सुरक्षा भी सशर्त होगी।

यदि नैतिकता चयनात्मक होगी, तो न्याय भी चयनात्मक होगा।

अंतिम विचार

समाज की चयनात्मक नैतिकता केवल स्त्री को नहीं, पूरी व्यवस्था को कमजोर करती है।

जब नियम सबके लिए समान नहीं होते, तो विश्वास टूटता है।

और जब विश्वास टूटता है, तो संबंध भी कमजोर हो जाते हैं।

यह अध्याय किसी पर उंगली उठाने के लिए नहीं, बल्कि सामूहिक आत्ममंथन के लिए है।

क्या हम सचमुच समान नैतिकता के लिए तैयार हैं?

क्या हम अपने बेटों और बेटियों के लिए एक ही कसौटी स्वीकार करेंगे?

यदि नहीं, तो पूजा से परछाई तक का सफर चलता रहेगा।

अब हमारी यात्रा उस दिशा में बढ़ेगी जहाँ समाधान की चर्चा होगी—

“कानून, नीति और पुनर्वास की हकीकत”
